R.N.I. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

मूल्य-4 रुपये, वर्ष-19, अङ्क-8 अगस्त 2019 1

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ०प्र०) का
मासिक मुख समाचार पत्र

मङ्गलायतन

तीर्थधाम मङ्गलायतन स्थिति भगवान बाहुबलीस्वामी जिनमन्दिर में
स्थापित शाश्वत् सिद्धधाम श्री सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र की प्रतिकृति

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ एवं
कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान, उज्जैन

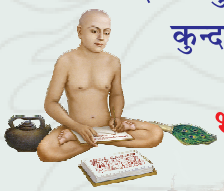

के संयुक्त तत्त्वावधान में

भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव एवं
आध्यात्मिक शिक्षण शिविर

(गुरुवार, 24 अक्टूबर से सोमवार, 28 अक्टूबर 2019)

सत्धर्म प्रेमी बन्धुवर !

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी तीर्थधाम मङ्गलायतन के उन्मुक्त वैदेही वातावरण में, भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं शिक्षण शिविर अध्यात्म, सिद्धान्त एवं जिनवरों की भक्तिपूर्वक सम्पन्न होगा।

विद्वत समागम - दादाश्री विमलचंद झांझरी, उज्जैन; पण्डित राजेन्द्रकुमारजी, जबलपुर; पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां; डॉ. राकेश शास्त्री, नागपुर; डॉ. योगेशचन्द जैन, अलीगंज; पण्डित अरहन्त झांझरी, उज्जैन; पण्डित नगेश जैन, पिड़ावा; पण्डित मनोज जैन, जबलपुर एवं तीर्थधाम मङ्गलायतन के स्थानीय विद्वान पण्डित अशोक लुहाड़िया, पण्डित सचिन जैन, पण्डित सुधीर शास्त्री, डॉ. सचिन्द्र शास्त्री आदि का लाभ प्राप्त होगा।

सभी तत्त्वप्रेमी महानुभावों से निवेदन है धर्म लाभ लेने हेतु शीघ्र ही पत्र या फोन द्वारा सूचना प्रदान करें।

पत्र व्यवहार का पता— तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा राजमार्ग, सासनी-204216
सम्पर्क सूत्र-9997996346 (कार्या०); 9756633800 (पण्डित सुधीर शास्त्री)
Email : info@mangalayatan.com; website : www.mangalayatan.com

मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-19, अङ्क-8 (वी.नि.सं. 2545; वि.सं. 2075) अगस्त 2019

पारस नाम...

पारस नाम पारस नाम, मेरे प्रभु का पारस नाम।
है सुख खान प्रभु का नाम, मेरे प्रभु का पारस नाम।टेक॥

है सुखकारी पर हितकारी,
जग हितकारी महिमा भारी।
निशदिन जपते तेरा नाम॥1॥

पाप निकंदन कर्म निकंदन,
भव तम भंजन जन मन रंजन।
भक्तजनों के तुम अभिराम॥2॥

दे उपदेश बहुत जन तारे।
सिद्धालय में आप विराजे॥
हम भी पहुँचे शिवपुर धाम॥3॥

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़
मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़
सम्पादक
डॉ. सचिन्द्र शास्त्री, मङ्गलायतन
सह सम्पादक
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून
सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

इस अङ्क के प्रकाशन में सहयोग-
श्री कश्यप,
चेतन जैन, बडोदरा
हस्ते **श्री अजित जैन,**
बडोदरा (गुज०)

क्या - कहाँ

तीर्थंकर पार्श्वनाथ	5
वीतरागी-विज्ञान में ज्ञात होता	11
प्रथम प्रवचन	16
नवतत्त्व का ज्ञान	21
मोक्षतत्त्व (3)	25
श्री जयसेनाचार्यदेव	29
उपदेश सिद्धांत रत्नमाला	31
समाचार-सार	33

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

मोक्ष सप्तमी पर विशेष

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

जिसने निरन्तर दश भवों तक अनायास शत्रुता करके मरणांतक कष्ट दिया, प्रत्येक बार प्राणघात किया, ऐसे कमठ के जीव को क्षमाशील पार्श्व प्रभु का जीव, शान्तिपूर्वक सब कष्ट सहन करते हुए भी क्षमा करता रहा और उन्हें कभी भी बदले की भावना या कषाय जागृत नहीं हुई। इस क्षमा और क्रोध का संघर्ष दश भवों तक निरन्तर चलता रहा, किन्तु अन्त में क्षमा की ही विजय हुई। कमठ का जीव, पराजित होकर प्रभु की शरण में जा पहुँचा। ज्ञानी जीव सोचते हैं कि मेरे शत्रु तो मेरे कषायादि विकारी भाव हैं। जिसके कारण ही आत्मा निरन्तर दु:ख भोगता हुआ संसार के चक्कर काटता रहता है क्योंकि इस विकार से ही कर्मबन्ध होता है तथा कर्मोदय होने पर ही यह शत्रु- आदि का अनिष्ट संयोग मिलता है। आत्मा का शत्रु, आत्मा से कहीं बाहर नहीं है; आत्मा में ही है। तब वह क्रोध किस पर करे, जब शत्रु तो अपना क्रोधादि विकार ही है ? मुझे इसी असली शत्रु पर ही क्रोध करना चाहिए और इसके नाश करने का उपाय, निरन्तर करना चाहिए। अज्ञानी जीव, वस्तुस्वरूप का ज्ञान न होने से, निमित्तादि को ही अपना कर्ता-हर्ता मानता है। हे बन्धुओ! पार्श्वप्रभु का प्रेरणाप्रद यह व्याख्यान, हमारे मार्ग का निर्देशन कर रहा है।

दसवें पूर्व भव में पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति और कमठ उसका बड़ा भाई था। इनके पिता विश्वभूति, राजा अरविन्द के मन्त्री थे। कमठ प्रारम्भ से ही दुष्टस्वभाव का था, जबकि मरुभूति सरलस्वभावी तथा दयालु था। विश्वभूति ने आत्म-कल्याण के लिए मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली, तब राजा ने मरुभूति को अपना मन्त्री बनाया। अब कमठ, प्रजा को निरन्तर अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाता रहता था किन्तु मन्त्री का भाई होने से, उससे कोई

कुछ नहीं कहता था। एक बार मरुभूति, राजा के साथ लड़ाई पर चला गया। यहाँ पर कमठ, मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा के सुन्दर रूप को देखकर, उस पर मोहित हो गया। वह उससे मिलने को छटपटाता हुआ उपवन में चला गया। वहीं पर उसका एक मित्र आ पहुँचा। कमठ ने अपने मित्र से कहा – प्यारे मित्र! यदि वसुन्धरा न मिल सकी, तो मेरा जीवन मुश्किल है। मित्र ने उसे वसुन्धरा से मिलाने का आश्वासन दिया। मित्र ने वसुन्धरा के पास आकर कहा – तुम्हारा जेठ कमठ बहुत अधिक बीमार है, वह उपवन में बेसुध पड़ा हुआ है। यह सुनकर, वसुन्धरा कमठ को देखने उपवन में गई। कामान्ध कमठ ने वसुन्धरा का बलात् शील हरण किया। वसुन्धरा ने बहुत पश्चात्ताप किया, फिर भी उसने जेठ की प्रतिष्ठा रखने के लिए, इस भयंकर पाप के भेद को छिपाकर ही रखा, परन्तु फिर भी दूसरों के द्वारा उसके पाप का घड़ा फूट गया। राजा ने यह समाचार सुनकर कमठ को शूली का दण्ड दिया। यह देख मरुभूति ने कहा – राजन! वह मेरा बड़ा भाई है; अतः इसे क्षमा प्रदान करें। तब राजा ने उसे शूली का दण्ड तो नहीं दिया, किन्तु काला मुँह कराकर गधे पर बिठाकर, नगर से बाहर निकाल दिया।

निष्कासित होकर, गाँव से बाहर एक वन में वह एक तपस्वी का शिष्य बनकर, अपने हाथों पर एक शिला लेकर विवेकहीन खोटा तप करने लगा। एक दिन मरुभूति ने अपने बड़े भाई का यह समाचार सुना तो उसे बड़ा दुःख हुआ, बड़े भाई को देखने के लिए वह तड़फ उठा। तब राजा ने बहुत समझाया कि उस दुष्ट के पास मत जाओ; किन्तु मरुभूति बन्धु के प्रेमवश उस जंगल में जा पहुँचा, जहाँ तापसी बना कमठ तप कर रहा था। मरुभूति ने अपने बड़े भाई के चरणों में मस्तक रखकर क्षमा याचना की तथा कहा – पूज्य भ्राता! तुम्हें जो दुख प्राप्त हुआ, उसमें मेरा कोई दोष नहीं है। मैंने राजा को बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं माना; अतः मुझे क्षमा कर दो और अपने घर चलो।

मरुभूति ज्यों-ज्यों कमठ से क्षमायाचना के लिए गिड़गिड़ाता था, त्यों-त्यों कमठ का क्रोध बढता जा रहा था। अन्त में उसने क्रोधावेश में आकर हाथों में ली हुई शिला मरुभूति के ऊपर पटक दी, जिससे मरुभूति के प्राण पखेरु उसी क्षण उड़ गए। यह देखकर तापसियों ने कमठ को अपने आश्रम से निकाल दिया। तब वह भीलों से मिलकर चोरी करने लगा। एक दिन उसे राज सैनिकों ने पकड़, मूसल की मार दे मार डाला।

मरुभूति का जीव मरकर, शल्य वन में बज्रघोष नामक हाथी हुआ और वह कमठ, तीव्र कषाय के परिणामों से मरकर भयंकर सर्प हुआ। वहाँ महाराज अरविन्द ने जब मरुभूति का मरण सुना तो उन्हें वैराग्य हो गया। वे दीक्षा लेकर वन में तपस्या करने लगे। एक बार मुनि अरविन्द, मुनिसंघ के साथ सम्मेदशिखर की यात्रा को जा रहे थे। रास्ते में सायंकाल मुनिराज सामायिक करने बैठे थे, इतने में मरुभूति का जीव हाथी, वन में घूमता हुआ मुनिराज के समीप पहुँचा। मुनिराज को देखकर हाथी को पूर्वभव का स्मरण हो आया, जिससे वह शान्तचित्त होकर मुनि के चरणों में बैठ गया। मुनिराज ने भी अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह मरुभूति का जीव है और भावी तीर्थंकर है। मुनिराज ने उसको धर्मोपदेश दिया, तब हाथी ने सम्यग्दर्शनसहित पंचाणुव्रत धारण कर लिए। अब वह सूखे पत्ते खाकर शान्ति से काल व्यतीत करने लगा। एक दिन वह हाथी, पानी पीने के लिये तालाब में जा रहा था कि कीचड़ में उसका पैर धँस गया। तब कमठ के जीव, सर्प ने, उसे डस लिया। हाथी उत्तम भावों से मरकर बारहवें स्वर्ग में शशिप्रभ देव हुआ। कमठ का जीव, मरकर पाँचवें नरक में गया।

नरक से निकलकर कमठ का जीव विशालकाय अजगर हुआ और मरुभूति (पार्श्वनाथ) का जीव विदेहक्षेत्र में अग्निवेग नाम का राजकुमार हुआ। बहुत दिनों तक राज्यसुख भोगकर एक दिन मुनि-दर्शन करके, राजकुमार युवा अवस्था में ही दीक्षित होकर मुनि बन गया। एक दिन ये

मुनिराज ध्यान में बैठे थे, उसी समय पूर्व बैर के कारण वह अजगर वहाँ आया और ध्यानस्थ मुनिराज को निगल गया। मुनिराज आराधनापूर्वक मरकर सोलहवें स्वर्ग में गए और अजगर मरकर छठवें नरक में गया।

स्वर्ग और नर्क से निकलकर दोनों जीव, मनुष्य हुए। मरुभूति का जीव विदेहक्षेत्र में बज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ और कमठ का जीव, भील हुआ। चक्रवर्ती, क्षेमंकर मुनि से मुनिदीक्षा लेकर आत्मसाधना करने लगे। एक दिन मुनिराज, पर्वत पर ध्यान कर रहे थे। इतने में कमठ का जीव वह भील आया और उसने मुनिराज को देखकर तीरों से उनके शरीर को छेद डाला। जिससे मुनि समाधिपूर्वक देह छोड़कर, मध्यम ग्रैवेयिक में 27 सागर की आयु लेकर अहमिन्द्र हुए और वह भील सरदार, सातवें नर्क में 27 सागर की आयुवाला नारकी हुआ।

मरुभूति (पार्श्वनाथ) का जीव, ग्रैवेयिक से निकलकर, अयोध्या -नगरी में आनन्दकुमार नामक महामण्डलीक राजा हुआ तथा कमठ का जीव, सिंह हुआ। राज्य-सुख भोगते हुए एक दिन अपना श्वेत बाल देखकर राजा को वैराग्य हो गया। उन्होंने दीक्षा लेकर सोलह कारण भावनाओं की आराधना की, जिससे उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ। एक दिन मुनिराज अपने आत्मध्यान में मग्न थे, इतने में कमठ के जीव सिंह ने आकर मुनि के शरीर का भक्षण कर लिया, जिससे मरुभूति का जीव, आनन्द मुनि चौदहवें प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हुआ और कमठ का जीव पाँचवें नरक में गया।

मरुभूति के जीव ने स्वर्ग से चयकर, काशी नरेश महाराज अश्वसेन और माता वामादेवी के यहाँ तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में जन्म लिया। कमठ का जीव, नरक से निकलकर त्रसपर्याय में घूमता हुआ, महीपालपुर का महीपाल नामक राजा हुआ। महीपाल पार्श्वनाथ के नाना थे। कुछ दिनों बाद महीपाल तापसी साधु बनकर पंचाग्नि तप कर रहा था। वहीं पर

पार्श्वकुमार, वन विहार करते हुए आ पहुँचे। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि एक लकड़ी में नाग-नागिनी जल रहे हैं। तब दया से प्रेरित होकर पार्श्वकुमार ने उस तापसी से कहा - अरे तपस्वी! इस लकड़ी के साथ नाग-नागनी भस्म हुए जा रहे हैं। इनको शीघ्र ही बचा लो, अन्यथा ये दोनों मर जाएँगे। तुम हिंसा कर रहे हो और अपने को तपस्वी मानते हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है! कुमार की बात सुनकर तापसी क्रोध से भभक पड़ा। उसने रोष में आकर लक्कड़ को फाड़ा तो देखता है कि सचमुच अन्दर से अर्धदग्ध सर्प युगल निकले। पार्श्वकुमार ने दयाभिभूत होकर उनको संबोधन दिया। वे नाग युगल शुभपरिणामों से मरकर, धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। तापसी महीपाल मरकर कुतप के प्रभाव से संवर नामक ज्योतिषी देव हुआ।

कुमार पार्श्व को सांसारिक भोगों में कोई रुचि नहीं थी। वे महलों में रहकर भी वैरागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन किया और मुनि-दीक्षा ले ली। इस समय पार्श्वकुमार की आयु तीस वर्ष थी। एक दिन मुनिराज पार्श्व सात दिन का ध्यानयोग धारण करके कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े थे। उस समय संवर नामक देव का विमान जा रहा था। उस स्थान पर आकर विमान रुक गया, संवरदेव ने नीचे एक मुनि को तप करते हुए देखकर यह सोच लिया कि इन्हीं मुनि ने मेरा विमान रोका है। पूर्वभव का क्रोध जागृत हो गया। उसने मुनिराज पार्श्व पर निरन्तर सात दिवस तक नाना उपसर्ग किये। वे मुनिराज क्षमाभाव धारणकर शान्तिपूर्वक उपसर्ग सहन करते रहे। मुनिराज पार्श्व पर उपसर्ग देखकर धरणेन्द्र ने देवी पद्मावतीसहित सेवा में उपस्थित होकर, उपसर्ग-निवारण का प्रयत्न किया। पार्श्व मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। यह शुभदिन चैत्र कृष्ण चतुर्दशी का था। जिस स्थान पर यह घटना घटी, वह 'अहिच्छत्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

पार्श्वनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने पर, उनके लिए समवसरण की रचना हुई। वहाँ धरणेन्द्र और पद्मावती देवी ने पार्श्वनाथ की स्तुति की। संवरदेव (कमठ का जीव) भी समवसरण में उपस्थित था। वहाँ केवली पार्श्वनाथ के अमृत-सदृश उपदेश सुनकर उसके कलुषित-हृदय के समस्त कषाय स्वत: झर गए। वह पार्श्वनाथ से अपने अपराधों की क्षमा माँगता हुआ आत्मविभोर होकर स्तुति करने लगा।

भगवान पार्श्वनाथ ने भारत-भूमि के कोने-कोने में विहार किया। अनेक वर्षों तक देश-देशान्तर में उपदेश करते हुए, अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अघाति-कर्म का क्षय किया। वे 100 वर्ष की आयु पूर्ण होने के पश्चात्, शरीर त्यागकर महा-आनंदरूप सिद्धपद में आरूढ हो गए। वह दिन श्रावण शुक्ल सप्तमी का था। यह दिन मोक्ष-सप्तमी के रूप में जाना जाता है। इसे मुकुट सप्तमी भी कहते हैं।

आज सम्मेदशिखरपर्वत, 'पारसनाथ हिल' के नाम से प्रसिद्ध है। स्थानीय लोग इसे 'मधुवन' कहते हैं। इस पर्वत की पर्वतमालाएँ दूर-दूर लगभग 40 वर्ग कि०मी० क्षेत्र में फैली हुई हैं। यहाँ से चौबीस तीर्थंकरों में से 20 तीर्थंकरों ने मोक्ष प्राप्त किया है। इसके अलावा असंख्य जैन-मुनियों ने भी इस क्षेत्र से सिद्धपद पाया है; अत: यह क्षेत्र जैन-धर्मावलम्बियों के लिए पावन एवं श्रद्धा का केन्द्र है।

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का मोक्ष स्थल ऊँचाई पर है। वहाँ एक विशाल-मन्दिर निर्मित है। अन्य 19 तीर्थंकरों के मोक्ष-स्थलों पर, उनके चरण-चिह्न बने हुए हैं। जिस शुभ दिन / श्रावण शुक्ल सप्तमी को पार्श्वनाथ ने मोक्ष प्राप्त किया था, उस दिन श्रद्धालुगण मन्दिर-प्रांगण में एकत्रित होकर निर्वाण-महोत्सव मनाते हैं।

मान्यता है कि इस तीर्थराज की एक बार भी भावसहित वन्दना करने से नरकगति एवं पशुगति से मुक्ति मिल जाती है।

भावसहित वन्दे जो कोई। ताहि नरक-पशुगति नहिं होई॥

श्री प्रवचनसार, गाथा 99 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी के प्रवचनों का सार

वीतरागी-विज्ञान में ज्ञात होता
— विश्व के ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव —

गतांक से आगे

आत्मा ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञान का स्वभाव 'जानना' है, अर्थात् ज्ञान, जानने का ही कार्य करता है। आत्मा में और पर में क्रमशः जो अवस्था हो, वह ज्ञेय है; उसे जैसी हो, वैसा मात्र जानना ज्ञान का स्वभाव है, किन्तु उसमें कुछ भी फेरफार करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान करे क्या ? ज्ञान तो जानता है। जानने के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान का कार्य नहीं है। रागादि परिणाम हुए, उन्हें भी जानना ज्ञान का कार्य है, किन्तु उस राग को अपना त्रिकाली-स्वभाव माने या हितकर माने, ऐसा ज्ञान का कार्य नहीं है और उस राग-परिणाम को बदलकर आगे-पीछे करे, ऐसा भी ज्ञान का कार्य नहीं है। बस! स्व या पर, विकारी या अविकारी, समस्त ज्ञेयों को जानना ही ज्ञान का कार्य है; मैं रागादि परिणामों जितना ही हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं मानता।—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही वीतरागता का मूल है।

इस जगत में अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और असंख्यात कालाणु—ऐसे छह प्रकार के पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक आत्मा का ज्ञानगुण छहों पदार्थों की क्रमशः होनेवाली समस्त अवस्थाओं को तथा द्रव्य-गुण को जाननेवाला है; ऐसा प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो जानता है, वह जीव, रागपरिणाम को जानता अवश्य है, किन्तु उस राग को अपना मूलस्वरूप नहीं मानता—राग को धर्म नहीं मानता, राग को उपादेय नहीं मानता और रागपरिणाम को आगे-पीछे करनेवाला भी स्वभाव नहीं मानता। उसके अवसर में वह रागपरिणाम भी सत् है, और उसे जाननेवाला ज्ञान भी सत् है; द्रव्य के त्रिकाली प्रवाहक्रम में वह रागपरिणाम भी सत्रूप

से आ जाता है, इसलिए वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। राग था, इसलिए राग का ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु ज्ञान का ही स्वभाव जानने का है। पूर्ण स्वज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान, उस राग को भी स्वज्ञेय के अंशरूप से जानता है; त्रिकाली अंशी के ज्ञानसहित अंश का भी ज्ञान करता है। यदि राग को स्वज्ञेय के अंशरूप से सर्वथा न जाने तो उस ज्ञान में सम्पूर्ण स्वज्ञेय पूर्ण नहीं होता, इसलिए वह ज्ञान सच्चा नहीं होता; और यदि उस रागरूप अंश को ही पूर्ण स्वज्ञेय मान ले और त्रिकाली द्रव्य-गुण को स्वज्ञेय न बनाये तो वह ज्ञान भी मिथ्या है। द्रव्य-गुण और समस्त पर्यायें—यह तीनों मिलकर स्वज्ञेय पूरा होता है; उसमें अंशी-त्रिकाली द्रव्य-गुण की रुचि सहित अंश को और परज्ञेय को जानने का कार्य सम्यग्ज्ञान करता है। यथार्थ ज्ञान में ज्ञेयों का स्वभाव कैसा ज्ञात होता है, उसका यह वर्णन है।

समस्त पदार्थों का स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है; प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय परिणाम होते हैं, वे परिणाम क्रमानुसार अनादि-अनन्त होते रहते हैं, इसलिए स्व-अवसर में होनेवाले परिणामों का प्रवाह अनादि-अनन्त है। उस प्रवाहक्रम का छोटे से छोटा प्रत्येक अंश भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभाववाला है। अनादि-अनन्त काल के प्रत्येक समय में उस-उस समय का परिणाम स्वयं सत् है। ऐसे सत् परिणामों को ज्ञान जानता है, किन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। जैसे-अग्नि या बर्फ आदि पदार्थों को आँख देखती है, किन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नहीं करती; उसी प्रकार ज्ञान की पर्याय भी ज्ञेयों को सत्रूप से जैसे हैं, वैसा जानती ही है; उनमें कुछ फेरफार नहीं करती। स्व-अवसर में जब जो परिणाम है, उस समय वही परिणाम होता है-अन्य परिणाम नहीं होते—ऐसा जहाँ ज्ञान में निश्चित किया, वहाँ किसी भी ज्ञेय के उल्टा-सीधा करने की मिथ्याबुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष नहीं होते।

अहा! देखो तो! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गम्भीरता है! द्रव्य

की पर्याय पर से बदलती है—यह बात तो है ही नहीं, किन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उल्टा-सीधा करना चाहे तो भी नहीं हो सकती। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य पलटकर अन्यरूप नहीं हो जाता; उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का अंश—परिणाम भी बदलकर अन्यरूप नहीं होता। 'मैं जीव नहीं रहना चाहता किन्तु अजीव हो जाना है'—इस प्रकार जीव को बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है ? नहीं बदल सकता। जीव पलटकर कभी भी अजीवरूप नहीं होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् नहीं बदलता, उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नहीं बदलता। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता, उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि-अनन्त अवस्थायें भी जिस समय जो हैं, उनमें फेरफार या आग-पीछा नहीं हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश अपने-अपने काल में सत् हैं। बस, पर में या स्व में कहीं भी फेरफार करने की बुद्धि न रही; इसलिए ज्ञान ज्ञाता ही रह गया। पर्यायबुद्धि में रुकना न रहा। इस प्रकार ज्ञान जानने का कार्य करता है—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीत करना, सो सम्यग्दर्शन है। अभी केवलज्ञान होने से पूर्व वह जीव, केवलीभगवान का लघुनन्दन हो गया। श्रद्धा-अपेक्षा से तो वह साधक भी सर्व का ज्ञायक हो गया है।

समस्त पदार्थों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव को निश्चित् करने से स्व में या पर में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रही, किन्तु ज्ञान में जानने का ही कार्य रहा; इसलिए ज्ञान में से 'ऐसा क्यों'—ऐसी हाय-हाय (-खलबलाहट) निकल गयी और ज्ञान, ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ—इसी में ज्ञान का परमपुरुषार्थ है; इसी में मोक्षमार्ग का और केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है। पर में कर्तृत्वबुद्धिवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं बैठती और न उसे ज्ञान के स्वभाव का—ज्ञायकपने का पुरुषार्थ भी ज्ञात होता है।

अहो! समस्त द्रव्य अपने-अपने अवसर में होनेवाले परिणामों में वर्त रहे हैं; उसमे तू कहाँ परिवर्तन करेगा? भाई! तेरा स्वभाव तो देखने का है। तू देखनेवाले को दृष्टा ही रख; दृष्टा को हाय-हाय करनेवाला न बना। दृष्टास्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मैं पर में फेरफार करता हूँ और पर मुझमें फेरफार करता है—ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव है, उसे ज्ञान और ज्ञेय के स्वभाव की प्रतीति नहीं है। जगत के जड़ या चेतन समस्त द्रव्य अपने प्रवाह में वर्तते हैं, उनमें जो-जो अंश वर्तमान में वर्त रहा है, उसे कोई आगे-पीछे नहीं कर सकता। मैं ध्यान रखकर शरीर को बराबर रखूँ—ऐसा कोई माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर का प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रम में वर्त रहा है, उसके क्रम को कोई बदल नहीं सकता। कहीं भी फेरफार करने का आत्मा के किसी भी गुण का कार्य नहीं है, किन्तु स्व को जानते हुए पर को जाने —ऐसा उसके ज्ञान-गुण का स्व-परप्रकाशक कार्य है। इसकी प्रतीति ही मुक्ति का कारण है।

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणमित होता रहता है; उसके त्रिकाल के प्रवाह में स्थित समस्त परिणाम, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं। अपने स्वकाल में वे सब परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं; पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और परस्पर सम्बन्धवाले अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे ध्रौव्य हैं। द्रव्य के समस्त परिणाम अपने-अपने काल में सत् हैं। वे परिणाम स्वयं अपनी अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) नहीं हैं, किन्तु अपने पहले के-पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से वे असत् (व्ययरूप) हैं और प्रथम पश्चात् के भेद किये बिना अखण्डप्रवाह को देखो तो समस्त परिणाम ध्रौव्य हैं। जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम में वर्त रहा है। द्रव्य त्रिकाल होने पर भी जब देखो तब वह वर्तमान परिणाम में वर्त रहा है—कहीं भूत में या भविष्य में नहीं वर्तता। द्रव्य के तीनों काल के जो वर्तमान परिणाम हैं, वे अपने से पहले के परिणाम के अभावस्वरूप हैं; और स्वपरिणामरूप से उत्पादरूप हैं, तथा वे ही अखण्डप्रवाहरूप से ध्रौव्यरूप हैं।

देखो, इसमें यह बात आ गयी कि पूर्व के परिणाम-अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम हैं, इसलिए पूर्व के संस्कार वर्तमान पर्याय में नहीं आते, और न पूर्व का विकार वर्तमान में आता है; पहले विकार किया था, इसलिए इस समय विकार हो रहा है—ऐसा नहीं है। वर्तमान परिणाम स्वतन्त्रतया द्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह निर्णय होने से ज्ञान और श्रद्धा द्रव्यस्वभावोन्मुख हो जाते हैं। जिस प्रकार त्रिकाली जड़ द्रव्य बदलकर चेतन या चेतन द्रव्य बदलकर जड़ नहीं होता; उसी प्रकार उसका वर्तमान प्रत्येक अंश भी बदलकर दूसरे अंशरूप नहीं होता। जिस-जिस समय का जो अंश है, उस-उस रूप ही सत् रहता है। बस, भगवान सर्वज्ञरूप से ज्ञाता है, उसी प्रकार ऐसी प्रतीति करनेवाला स्वयं भी प्रतीति में ज्ञाता ही रहा।

पर के कारण पर में कुछ होता है—यह बात तो दूर रही, परन्तु द्रव्य स्वयं अपने अंश को आगे-पीछे करे, ऐसी उस द्रव्य की शक्ति नहीं है; पहले का अंश पीछे नहीं होता, पीछे का अंश पहले नहीं होता।—ऐसा निर्णय करनेवाले को अंशबुद्धि दूर होकर अंशी की दृष्टि होने से सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद और मिथ्यात्वपरिणाम का व्यय हो जाता है।

प्रभु! तू आत्मा वस्तु है, तेरा ज्ञानगुण तेरे आधार से टिका है, वह ज्ञाता स्वभाववाला है और तेरे तीन काल के परिणाम अपने अवसर के अनुसार, द्रव्य में से होते रहते हैं। तेरे अपने वर्तमान में प्रवर्तमान अंश को कम-अधिक या आगे-पीछे कर सके—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; और न पर के परिणाम में भी फेरफार हो सकता है। स्व-पर समस्त ज्ञेयों को यथावत् जानने का ही तेरा स्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति में ही आत्मा का सम्यक्त्व है।

क्रमशः

आत्मधर्म (हिन्दी), वर्ष 7, अंक तीन

श्री समयसार नाटक पर

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का धारावाही प्रवचन

प्रथम प्रवचन

गतांक से आगे

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ,
हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है।
साचौ सुख मानै निजमहिमा अडोल जानै,
आपुही मैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है ।।
जैसें जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै,
तैसें जीव अजीव विलछनु करतु है।
आतम सकति साधैं ग्यानकौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु हैं।।8।।

अर्थः- जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभव से आनन्दित होकर मिथ्यात्व को नष्ट करता है, जो सच्चे स्वाधीन सुख को सुख मानता है, जो अपने ज्ञानादि गुणों का अविचल श्रद्धान करता है, जो अपने सम्यग्दर्शन स्वभाव को आपही में धारण करता है, जो अनादि के मिले हुए जीव और अजीव का पृथक्करण जल-कर्दम से कतकफल के समान करता है, जो आत्मबल बढ़ाने में उद्योग करता है और ज्ञान का प्रकाश करता है; वही सम्यग्दृष्टि संसार-समुद्र से पार होता है।।8।।

काव्य - 8 पर प्रवचन

अब सम्यक्त्वी की स्तुति का तीसरा काव्य चलता हैः-

देखो यह सम्यग्दर्शन! उसका स्वरूप व स्तुति चलती है। जिसके हृदय में गणधर के समान स्व-पर का विवेक प्रकट हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है। कारण कि दो वस्तुयें न हों तो भूल संभव नहीं है। जैसा अपना स्वरूप है, वैसा ज्ञान में न आवे और अन्य पदार्थ को अपना माने, वही मिथ्यादृष्टि है।

जहाँ द्वैत होता है, भूल भी वहीं होती है और उससे भिन्न होकर भूल का अभाव भी होता है।

विवेक अर्थात् भेदज्ञान, स्वपर की भिन्नता। आत्मा आनंदस्वरूप है और विकल्प आकुलता स्वरूप है; अत: विकल्प से लेकर समस्त परवस्तुयें आत्मा से भिन्न हैं। ऐसा गणधर जैसा विवेक सम्यग्दृष्टि जीव को प्रकट हुआ है। फिर भले ही वह मनुष्य हो, पशु हो, नारकी हो अथवा देव हो या स्त्री पर्याय में हो; किन्तु यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो उसे गणधर जैसा विवेक प्रकट हुआ है।

अहो ! कहाँ तीर्थंकर प्रभु की सभा के वजीर गणधरदेव, जो अन्तर्मुहुर्त में द्वादशांग की रचना करते हैं और कहाँ सम्यग्दृष्टि ! तथापि श्रद्धा में विवेक दोनों का एक समान है। कहाँ गणधर, कहाँ सम्यग्दृष्टि मनुष्य, पशु और नारकी ! किन्तु इन सबके ज्ञान में एक समान स्व-पर का विवेक प्रकट हुआ है। इनके सम्यक्त्व और स्व-पर के विवेक में कुछ भी अंतर नहीं है।

राग, शरीर और कर्म से चैतन्य का स्वरूप अत्यन्त भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है; इसकारण उनके हृदय में अर्थात् ज्ञान में आत्मानुभव से हर्ष हुआ है। यह हर्ष अर्थात् दुनिया के हर्ष की बात नहीं है। यह तो आनंदस्वरूप आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हर्ष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को स्व-पर का और स्वभाव-विभाव का विवेक होने से मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। स्वभाव का अनुभव करके आनंद प्रकट हुआ है, उसके कारण महामोहरूप मिथ्यात्व को नष्ट करता है। गृहस्थदशा में होने पर भी जीव और अजीव, स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान होने से इन्द्रियों तथा उनके विषयों में आनंद नहीं मानता। मिथ्यात्वरूप भ्रम के अभाव का 'भेदज्ञान' ही एकमात्र उपाय है।

भेदज्ञान होने से मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की प्राप्ति दोनों एक ही साथ होते हैं। भेदज्ञान होने पर मिथ्यात्व एवं अज्ञान-दोनों का नाश होता है। श्रद्धा और ज्ञानगुण भले ही भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु कार्य एक साथ होता है। देखो न, लिखा है कि 'महामोह को हरतु है' चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ होने

पर मिथ्यात्व उत्पन्न ही नहीं होता, अतः उसका नाश किया -ऐसा कहा जाता है।

आत्मा आनंद की मूर्ति है और राग आकुलता है। भले ही शुभराग हो, किन्तु वह भी आकुलता है। अतः जहाँ तक राग में एकत्व था, तब तक दुःखी था और राग की आकुलता एवं आत्मा के आनंद का भेदज्ञान होते ही सुख होता है। यही समकित और भेदज्ञान है।

धर्म की शुरूआतवाला जीव कि जिसने जन्म-मरण के कारणरूप भावों का नाश किया है, वह आत्मा के स्वाधीन आनंद में ही सुख मानता है।

वह धर्मी जीव पुण्य-पाप के राग में, स्त्री-पुत्र-परिवार में अथवा राजपाट, इन्द्र के इन्द्रासन में सुख नहीं मानता; क्योंकि इनमें सुख है ही नहीं।

अहो! बहुत संक्षिप्त श्लोकों में बहुत माल भर दिया है।

'निज महिमा अडौल जाने'-उसकी श्रद्धा में अपने अनंत गुणों की महिमा के समक्ष अन्य किसी की महिमा नहीं आती। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, उस उत्कृष्ट शुभभाव की भी महिमा ज्ञानी को नहीं आती और अपने ज्ञान, आनंदादि अनंत गुणस्वरूप आत्मा की महिमा अडौल - हिले नहीं -ऐसी निशंक होती है। आठ वर्ष की कन्या भी यदि सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसकी भी ऐसी निशंक श्रद्धा होती है। समकित कहाँ किसी अन्य की वस्तु है? अपनी ही वस्तु है। स्वयं शुद्ध चैतन्यकंद, आनन्द का दल, अस्तित्ववाली वस्तु है -ऐसा विवेक अंदर में होने पर अडोलपने अपने गुण की ही महिमा भासित होती है। शरीर सुंदर हो, वाणी कोमल हो अथवा चक्रवर्ती का वैभव हो; किन्तु अन्तर में किसी की महिमा नहीं आती।

श्रोता:- अंतर में महिमा नहीं आती अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री:- अर्थात् कदाचित बाहर से भले ही बोले कि इनका कंठ बहुत मीठा है, शरीर बहुत सुंदर है, किन्तु ज्ञानी को अंतर में इसकी महिमा नहीं होती।

'आपु ही में आपनौ सुभाव ले धरतु हैं' -आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन

स्वभाव को अपने में धारण करता है। अपना जानने का भाव, श्रद्धा का भाव, स्थिरता का भाव, आनंद का भाव –उसे धारण करता है, किन्तु धर्मी रागादि भावों को अपने में धारण नहीं करता।धर्मी अपने गुणों की निर्मल पर्याय प्रकट करके उसे धारण करता है, रक्षा करता है; किन्तु पुण्य–पाप के भाव को धारण नहीं करता, रक्षा नहीं करता। श्रीमद् में आता है कि 'स्वद्रव्य के धारक शीघ्र होओ और परद्रव्य का धारकपना शीघ्र छोड़ो।' धर्मी निर्मल पर्याय प्रकट करके धारण करता है; किन्तु पुण्य–पाप के राग को धारण नहीं करता। धर्मी राग का धारक नहीं है, रक्षक नहीं है, पक्षक नहीं, भोगनेवाला नहीं है।

भारी बात है न! धर्मी इन्द्र या चक्रवर्ती हो, उसके अपार वैभव हो, वर्तमान में तो किसी के पास इतना वैभव भी नहीं है। चक्रवर्ती के लिए देव आकर पाँच भवन बना देते हैं, जो कि बहुत विशाल और अलौकिक होते हैं। उनमें चारों ओर हीरा–माणिक जड़े होते हैं, एक–एक हीरे का मूल्य अरबों रुपये होता है। ऐसे अनेक प्रकार के वैभव होते हैं तथापि धर्मी जानता है कि यह वैभव मेरा नहीं और मैं इसका नहीं। मैं इसे रखता नहीं, धारता नहीं, मैंने इसे प्रकट नहीं किया; न मैं इसका रक्षक ही हूँ और न ये मेरा रक्षक ही है।

जैसे मलिन जल में कतक फल डालने से मैल और जल पृथक्–पृथक् हो जाते हैं; वैसे ही भेदज्ञान करने से राग और निर्विकल्प भगवान आत्मा दोनों भिन्न हो जाते हैं। अतः करने योग्य यह भेदज्ञान ही है और जिसने किया, उसकी ऐसी दशा हो जाती है ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। भेदज्ञान के बिना कभी भी किसी को सम्यक्त्व नहीं होता।

निर्मली औषधि जो कतक फल, वह पानी में डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी निर्मल हो जाता है; वैसे ही भेदज्ञानरूपी, प्रज्ञाछैनीरूपी निर्मली औषधि द्वारा बहिर्मुखी भाव और अन्तर स्वभाव दोनों को भिन्न जानकर धर्मी जीव शुद्धता का अनुभव करते हैं।

'जीव–अजीव विलछनु करतु है' –अर्थात् जीव–अजीव को भिन्न कर

देते हैं। यहाँ अजीव शब्द में रागादि सब आ जाते हैं। चैतन्य स्वभाव ज्ञायक भगवान का दल आनन्दमूर्ति आत्मा और रागादि अजीव इन दोनों को भेदज्ञान द्वारा भिन्न किया जाता है। देखो! कर्म द्वारा अथवा किसी परद्रव्य द्वारा स्व-पर को भिन्न नहीं किया जा सकता, किन्तु भेदज्ञान की क्रिया द्वारा जीव-अजीव और स्वभाव-विभाव को भिन्न किया जा सकता है।

'आतम सकति साधै' -अर्थात् ज्ञान, दर्शन, आनन्द की शक्ति को साधै। भले ही युद्धादि में खड़ा हो, किन्तु ज्ञान-दर्शनादि की शक्ति को साधता है और ज्ञान का अर्थात् आत्मा का प्रकाश करता है। वही सम्यग्दृष्टि संसारसमुद्र से पार होता है।

देखो! यह लिखनेवाले बनारसीदासजी स्वयं एक कवि हैं और ज्ञानी हैं। गृहस्थाश्रम में रहते थे। उनकी तीन शादियाँ हुई थीं, नौ संतानें हुई थीं, किन्तु सब मर गये। जगत की चीजें हैं भाई! अपने कारण आती हैं और अपने कारण चली जाती हैं।

गठरीवाले एक भाई के जीवन में ऐसा प्रसंग बना कि परदेश में कमाने गया। वहाँ कमाई की, शादी की, पुत्र हुए; अकेला था उसमें से बारह व्यक्ति हो गये और फिर सब चले गये, पैसा भी चला गया और स्वयं जैसे अकेला गया था, वैसा ही वापिस आ गया। यह प्रसंग बताता है कि परवस्तु के साथ आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। धर्मी भी व्यापार परिग्रह आदि में दिखता है, किन्तु उसका उनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे समकिती जीव ही चौरासी के अवताररूप भवभ्रमण से तिर जाते हैं। जिसको सम्यक्त्व हुआ है, उसको अल्पकाल में केवलज्ञान होकर मोक्ष होना ही है।

कोई ऐसा कहते हैं कि व्रत, तप, क्रिया आदि करते हैं, इसलिए संसार में तिर जायेंगे। तो कहते हैं कि हराम है, जो एक भव भी घटे। आत्मा की अन्तर्दृष्टि, ज्ञान और अनुभव के बिना मोक्ष तो होता ही नहीं, किन्तु एक भव कम भी नहीं होता। इसप्रकार समकिती की स्तुति के तीन श्लोक हुए।

क्रमशः

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (4)

नवतत्त्व का ज्ञान सम्यग्दर्शन का व्यवहार है

जिसे आत्मा की शांति और हितरूप कर्त्तव्य करना हो, उसे क्या करना चाहिए ? वह बात चल रही है। प्रथम जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों को यथावत् मानना चाहिए, नवतत्त्वों को माने बिना उन नव के विकल्प का अभाव होकर एकरूप वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं होती, और पर्यायदृष्टि में अनेकता है, उसे जाने बिना भी एकरूप स्वभाव की दृष्टि नहीं होती। नवतत्त्वों के विकल्प से एक अभेद आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान नहीं होते, किन्तु एक अभेद आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके श्रद्धा-ज्ञान करने से उसमें नवतत्त्वों का रागरहित ज्ञान आ जाता है। प्रथम राग की मंदता होकर, ज्ञान के क्षयोपशम में नवतत्त्वों को यथावत् जानना चाहिए, उन्हें जाने बिना भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव नहीं होता।

नवतत्त्वों में जीव और अजीवतत्त्व तो त्रिकाल हैं, वे मूल द्रव्य हैं और शेष सात तत्त्व क्षणिक अवस्थारूप हैं। पुण्य और पाप क्षणिक अवस्था में होते हैं, वह विकारी अंश है। पुण्य-पाप-आस्रव और बंध - यह चारों तत्त्व अवस्था का स्वतंत्र विकार है, वह त्रिकाली जीव के आश्रय से नहीं होता और न अजीव के आश्रय से भी होता है। यदि त्रिकाली जीव के आश्रय से विकार हो, तब तो जीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व पृथक् नहीं रहेंगे और यदि अजीव के कारण विकार हो तो अजीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व पृथक् नहीं रहेंगे - इस प्रकार नवतत्त्व भिन्न-भिन्न निश्चित नहीं होंगे। इसलिए नवतत्त्वों को यथावत् पृथक्-पृथक् जानना चाहिए।

भगवान आत्मा अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड, ध्रुव है, शरीरादि अजीव से पृथक् हैं - ऐसा रागसहित विचार से निश्चित करे, उसे जीवतत्त्व का व्यवहारनिर्णय कहा जाता है। इस जगत में एक जीवतत्त्व नहीं है, किन्तु जीव के अतिरिक्त अन्य अजीवतत्त्व भी हैं। जीव में अजीव का अभाव है,

किन्तु अजीवरूप से तो वे अजीवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा चैतन्य तत्त्व का लक्ष्य चूककर अजीव के लक्ष्य से क्षणिक अवस्था में पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्व का अस्तित्व स्वतंत्र है। यदि अजीव कर्म के कारण विकार होता है - ऐसा माने तो उसने अजीव को और आस्रवादि तत्त्वों को एक माना, इससे नवत्त्व स्वतंत्र नहीं रहे। इसलिए जो ऐसा मानता है कि कर्म के कारण विकार होता है, उसे नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

नवतत्त्वों में पुण्य, पाप और आस्रव - यह तीन कारण हैं और बंध उनका कार्य है। कुदेव और कुगुरु उस बंध तत्त्व में आ जाते हैं। जो पुण्य से धर्म मनाये, आत्मा जड़ का कर सकता है - ऐसा मनाये, वह कुगुरु है, वैसे कुगुरुओं को पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्वरूप से स्वीकार करके उनका आदर छोड़ दे, उसी ने नवतत्त्वों को माना कहा जाता है। कुगुरु पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्व के कर्ता हैं, इससे उन्हें पुण्य-पाप-आस्रव-बंधतत्त्व में जानना चाहिए। विकार में धर्म माननेवाले कुगुरुओं को जो सच्चा माने, वह उनका आदर करे, उसने आस्रवादि तत्त्वों को संवर-निर्जरातत्त्व में मान लिया है, उसने नवतत्त्वों को नहीं जाना है।

सम्यग्दर्शन तो एक चैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से ही होता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसके आश्रय से एकाग्रता करने से ही संवर-निर्जरा होते हैं। पुण्य है, वह उदयभाव है, उस उदयभाव से संवर-निर्जरा नहीं होते, तथापि पुण्य को क्षयोपशमभाव माने और उसे संवर-निर्जरा का कारण माने तो उस विपरीत मान्यता का महापाप अनंत संसार का कारण है।

प्रश्न - एक छोटी सी भूल की, उसमें इतना भारी दण्ड ?

उत्तर - चैतन्य भगवान को विकार से लाभ मानना, वह छोटी सी भूल नहीं किन्तु भयंकर अपराध है। मिथ्या मान्यता द्वारा अनंतगुण के पिण्ड, चैतन्य को कुचलकर विकार से लाभ मानता है, वह महान अपराधी है, महान पापी है। जैसे किसी महान वैभवशाली राजा का इकलौता पुत्र हो और सबेरे उसे राजगद्दी होने की तैयारी हो गई हो, उससमय कोई उसका मस्तक काट डाले तो वह कैसा अपराध है ? उसीप्रकार यह चैतन्य राजा

अनंतगुणों का स्वामी है, उस चैतन्य सम्राट की निर्मलानंद प्रजा-पर्याय प्रगट होने के समय, उसको विकार से लाभ मानकर निर्मल प्रजा-परिणति को विपरीत मान्यता से कुचल डालता है, वह चैतन्य का महान अपराध है, उस चैतन्यतत्त्व के विरोध के फल में नरक-निगोद दशा होती है।

नवतत्त्वों में निर्जरातत्त्व है। अन्तर में आत्मतत्त्व के अवलंबन से निर्मलता की वृद्धि हो, अशुद्धता दूर हो और कर्म खिर जायें, उसका नाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त देह की क्रिया में या पुण्य में वास्तव में निर्जरा नहीं है। संवर-निर्जरा, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है - ऐसे निर्जरातत्त्व को न जाने और पुण्य से निर्जरा होना माने अथवा जड़ की क्रिया से या आहार न लेने से निर्जरा माने, उसे तो व्यवहार से-पर्यायदृष्टि से भी नवतत्त्वों की खबर नहीं है। निर्जरा तो शुद्धता है और पुण्य अशुद्धता है, अशुद्धता के द्वारा शुद्धता नहीं होती। तथापि जो अशुद्धता द्वारा अशुद्धता दूर करना (पुण्य से निर्जरा होना) मानते हैं, उन्होंने निर्जरा आदि तत्त्वों को नहीं जाना है। नवतत्त्व के विकल्परहित चैतन्यद्रव्य के भान सहित एकाग्रता बढ़ने से शुद्धता बढ़े और अशुद्धता दूर हो जाये तथा कर्म खिर जायें - यह निर्जरा है। जिसे ऐसा निर्जरातत्त्व प्रगट हुआ हो, उसे गुरु कहते हैं। संवर और निर्जरा - यह दोनों आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं, वह धर्म है।

संवर-निर्जरा मोक्ष का साधन है, ऐसे संवर-निर्जरा के फल में जिन्होंने पूर्ण परमात्मदशा प्रगट की है, वे देव हैं और संवर-निर्जरारूप साधकदशा जिनके प्रवर्तमान है, वे गुरु हैं तथा वह संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव स्वयं धर्म हैं। इसप्रकार नवतत्त्व की और देव-गुरु-धर्म की पहिचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। 'तप से निर्जरा होती है' - ऐसा शास्त्र में है, वहाँ लोग आहार का त्याग किया, वह तप और उससे निर्जरा हुई - ऐसा बाह्य दृष्टि से मान लेते हैं, उन्हें यह भी भान नहीं है कि तप क्या है और निर्जरा क्या है। तप से निर्जरा होती है - यह बात सत्य है, लेकिन उस तप का स्वरूप क्या है ? बाह्य तप से निर्जरा धर्म नहीं होता, किन्तु अंतर में चैतन्यस्वरूप का

भान करके उसमें एकाग्र होने से सहज ही इच्छा का निरोध हो जाता है, वह तप है और उससे निर्जरा होती है। सम्यक्रूप से चैतन्य का प्रतपन, सो तप है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे सच्चा तप नहीं होता। जो पुण्य से या शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा मानते हैं, उन्हें तो, नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले अभव्य जीव को नवतत्त्व की जैसी श्रद्धा अनंत बार होती है, वैसी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जो पुण्य को क्षयोपशमभाव माने और उसे धर्म का कारण माने, उसने पुण्यतत्त्व को या धर्मतत्त्व को नहीं जाना और न उसे धर्म होता है।

आत्मा में शुद्धता की वृद्धि हुए बिना, कर्म अपने आप पककर खिर जायें, वह सविपाक निर्जरा है, वह निर्जरा तो सभी जीवों के होती है, उसमें धर्म नहीं है, और आत्मा के भान बिना ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि शुभभाव से कुछ अकामनिर्जरा हो, उसकी गिनती भी धर्म में नहीं होती। लेकिन आत्मा में नवतत्त्व का भान करके एक स्वभाव के आश्रय से शुद्धता में वृद्धि हो और अशुद्धता तथा कर्म दूर हों, वह निर्जरा, मोक्ष का कारण है। *क्रमशः*

आत्मधर्म (हिन्दी), वर्ष 7, अंक चार

आगामी कार्यक्रम

दशलक्षण महापर्व

आगामी दशलक्षण महापर्व के पावन अवसर पर दिनांक **3 सितम्बर से 12 सितम्बर 2019** तक विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जायेंगे। इस अवसर विधान-पूजन, पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचन, स्वाध्याय, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का लाभ प्राप्त होगा।

डॉ. विवेक जैन, छिंदवाड़ा एवं स्थानीय विद्वान।

जो भी साधर्मी इस कार्यक्रम में रहकर धर्मलाभ प्राप्त करना चाहते हैं, वे सादर आमन्त्रित हैं। यहाँ पर आवास एवं भोजन की व्यवस्था है। कृपया अपने आगमन की अग्रिम सूचना अवश्य प्रदान करें।

सम्पर्कसूत्र : तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा राजमार्ग,
हनुमान चौकी, सासनी-204216 (हाथरस)
मोबा. 9997996346 कार्या० (अशोक जैन); 9756633800 (सुधीर शास्त्री)

मोक्षतत्त्व (3)

श्री प्रवचनसार गाथा 272 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का प्रवचन

271वीं गाथा में संसारतत्त्व का वर्णन किया, अब इस 272वीं गाथा में उस संसारतत्त्व के सन्मुख मोक्षतत्त्व को प्रगट करते हैं। मोक्षतत्त्व आत्मा की निर्विकारी शुद्धदशा है। संसार आत्मा की भूलयुक्त विकारदशा है और मोक्ष आत्मा की पवित्र दशा है, आत्मा तो उन दोनों अवस्थाओं में ध्रुवरूप नित्य रहनेवाला है। संसार और मोक्ष – यह दोनों आत्मा की क्षणिक अवस्थाएँ हैं। संसार का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं हो जाता और मोक्षदशा प्रगट होने पर आत्मा नवीन प्रगट नहीं होता। संसारदशा का व्यय और मोक्षदशा का उत्पाद होता है, आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से एकरूप ध्रुव है। जो आत्मा संसारदशा में था, वही मोक्षदशा में रहता है।

संसारतत्त्व का वर्णन करते हुए 271वीं गाथा में तत्त्व की विपरीत श्रद्धावाले द्रव्यलिंगी श्रमण को मुख्य संसारतत्त्व कहा था। यहाँ मोक्षतत्त्व के वर्णन में भावलिंगी शुद्धोपयोगी श्रमण मोक्षतत्त्व है – ऐसा कहते हैं।

अयथाचरणहीन सूत्र अर्थ सुनिश्चयी उपशांत जे।
ते पूर्ण साधु अफल आ संसारमां चिर नहि रहे ॥272॥

इस प्रवचनसार शास्त्र की अन्तिम पाँच गाथाओं को श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पाँच रत्नों की उपमा दी है, उन पाँच रत्नों में यह दूसरा रत्न है। द्रव्यलिंगी संसारतत्त्व अनंत संसार में परिभ्रमण करेगा – ऐसा कहा था और भावलिंगी श्रमण अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेगा, इससे वह मोक्षतत्त्व है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

मोक्ष के साधक श्रमण कैसे होते हैं ? त्रिलोक के मुकुट के समान, विवेकरूपी दीपक के प्रकाश वाले होते हैं। संसारतत्त्ववाला जीव स्वयं अविवेकी था, यहाँ मोक्षतत्त्व में प्रथम ही विवेक अर्थात् भेदज्ञान की बात की है। केवलज्ञान सूर्य है और मति-श्रुतज्ञान दीपक हैं। श्रमण को अभी केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है, किन्तु यथार्थ मतिश्रुतज्ञान प्रगट हुए हैं, वह त्रिलोक के

चूड़ामणि समान दीपक हैं। सम्यग्ज्ञान का विवेक प्रगट हुए बिना मुनिदशा नहीं होती, इससे प्रथम विवेक की बात ली है। लोग भी कहते हैं कि–

धर्म खेत में न उगे, धर्म न हाट बिकाय।
प्रगट धर्म विवेक से, जो करिये तो थाय।।

धर्म कहीं बाह्य से नहीं मिलता, किन्तु अंतरंग विवेक से होता है। विवेक का अर्थ क्या है ? स्व-पर पदार्थों का स्वभाव जैसा है, वैसा ही ज्ञान में जानना, वह विवेक है। प्रथम तो श्रमण को ऐसे विवेक के कारण यथास्थित पदार्थ निश्चय होता है अर्थात् पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही उसकी श्रद्धा होती है। घड़ा मिट्टी से होता है – ऐसा मानना, वह यथास्थित पदार्थश्रद्धा है, और कुम्हार घड़ा बनाता है – ऐसा मानना यथास्थित पदार्थश्रद्धा नहीं किन्तु विपरीत श्रद्धा है। जब पदार्थ की जिस अवस्था का स्वकाल होता है, तब वह अवस्था स्वतंत्ररूप से उसके अपने से ही होती है, दूसरी वस्तु से उसमें कुछ भी नहीं होता – ऐसा समझना, वह पदार्थ की यथार्थ श्रद्धा है। ऐसी यथार्थ श्रद्धा प्रगट करने से ही पदार्थों संबंधी उत्सुकता नष्ट होती है। यदि पदार्थ का यथार्थ निर्णय न करे तो 'पदार्थ ऐसा होगा या वैसा ?' – ऐसी शंका के झूले पर झूलता रहेगा, इससे उसकी आकुलता दूर नहीं होगी और वह कभी स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकेगा। मोक्ष के साधक मुनियों ने विवेकरूपी दीपक के प्रकाश से पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय किया है और इस निश्चय के द्वारा उत्सुकता को दूर किया है।

शुभराग बंध का कारण है, वह मोक्ष का साधन नहीं है। पुण्य पुण्यतत्त्व है, उससे धर्म नहीं होता, इसप्रकार नवों तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा द्वारा 'यह कैसा होगा ? क्या पुण्य से धर्म होता होगा!' इसप्रकार की सर्व शंकाएँ दूर हो जाती हैं। नि:शंकरूप से नवतत्त्वों का निर्णय न करे, वहाँ तक उपयोग आत्मस्वरूप में एकाग्र नहीं होता। प्रथम नवतत्त्वों का निर्णय करके आत्मा क्या है, वह निश्चित कर ले, पश्चात् आत्मा में उपयोग को लगाए तो वहाँ एकाग्रता हो। पदार्थ निश्चय करके जिसका उपयोग अपने स्वरूप में स्थिर हो गया है – ऐसे साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व कहते हैं।

मोक्षतत्त्व अर्थात् क्या ? उसकी यह बात चल रही है। स्वरूपमंथन अर्थात् जो आत्मस्वरूप में जम गये हैं – ऐसे भावलिंगी मुनि को वर्तमान में केवलज्ञान नहीं है, किन्तु भेदज्ञानरूपी दीपक प्रगट हुआ है, उस दीपक के प्रकाश द्वारा पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करके आत्मा में स्थित हुए हैं, प्रशांत आत्मा हुए हैं, उन्हें भविष्य में अल्पकाल में मुक्ति होना है, इससे उन्हीं को यहाँ मोक्षतत्त्व कह दिया है। अभी साक्षात् मोक्षदशा प्रगट नहीं हुई है, उससे पूर्व ही, मोक्ष के कारण का सेवन कर रहे हैं, इसलिए शुद्धोपयोगी मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है।

मैं ज्ञान-आनंदस्वरूप आत्मा हूँ, मेरा आनंद कहीं अन्यत्र नहीं है – ऐसा जिसने यथार्थ निर्णय किया है तथा पदार्थों के निर्णय संबंधी व्यामोह को दूर करके उत्सुकता दूर की है और जो स्वरूप में लीन प्रशान्तमूर्ति है, वही सच्चा श्रमण है, श्रमण की ऐसी अंतरंगदशा हो जाती है और वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। जैसे – मक्खी मिश्री का स्वाद लेने में ऐसी लीन हो जाती है कि वहाँ से हटना नहीं चाहती, मिश्री की भांति आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करने में मुनि का आत्मा ऐसा लीन हुआ है – ऐसा जम गया है कि वहाँ से बाहर निकलने का वह आलसी है, स्वभाव के अपूर्व आनंद में से किंचित् बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता। वे श्रमण स्वरूप के आनंद में तृप्त-तृप्त होने से मानों स्वरूप से बाहर निकलने के आलसी-सुस्त हों, इसप्रकार स्वरूप प्रशांति में मग्न होकर रह रहे हैं। जिसप्रकार किसी भिखारी को बहुत दिनों के बाद मिश्री की डली मिल गई हो और ममता से उसे चूसता रहे, उसीप्रकार यहाँ मुनिराज को पूर्व अनंतकाल में नहीं प्राप्त हुआ, आत्मा के आनंद-अमृतरस का ऐसा अपूर्व अनुभव प्रगट हुआ है कि उसी में वे लीन हो गये हैं, उसमें से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता, स्वभाव के अनुभव में से बाहर निकलने का उन्हें आलस होता है। देखो तो, आचार्यदेव की शैली। जगत के जीव तो धर्म करने के आलसी होते हैं, लेकिन वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनि तो धर्म से बाहर निकलने के आलसी हैं – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

जिसप्रकार घोर निद्रा में पड़ा हुआ बुलाने से नहीं जागता, उसीप्रकार

यहाँ आत्मा की जागृति से स्वरूप की प्रशांति में लीन हुए मुनि चाहे जैसे प्रतिकूलता आये, तथापि स्वरूप के बाहर नहीं निकलते।

उन मुनि का आत्मा स्वरूप में ही अभिमुखरूप से विचरता होने से अयथाचाररहित वर्तता है। मुनि का आत्मा एक आत्मस्वरूप में ही सन्मुखरूप से वर्तता है, अन्य पदार्थों के सन्मुख नहीं वर्तता। यहाँ तो मोक्षतत्त्व की बात लेना है। स्वरूप के बाहर लक्ष्य जाकर शुभवृत्ति उठे तो वह मोक्ष से रोकनेवाली है, इससे वह अयथाचार प्रवृत्ति है। शुद्धोपयोग प्रगट करके जो एक आत्मस्वरूप में वर्त रहा है, वह अयथाचाररहित है और वह नित्यज्ञानी है – ऐसे सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना चाहिए क्योंकि वह शुद्धोपयोगी श्रमण पुनः प्राण धारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होता और अन्य विकारभावरूप परिणमन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित परिणतिवाला रहता है।

जो स्वरूप की प्रतीति करके उसमें जम गये, ऐसे जम गये कि बाहर निकलने के आलसी हो गये हैं, विकल्परहित प्रशांत-उपशांतरूप हो गये हैं और निजस्वरूप में ही अभिमुखरूप से विचरण करने से अयथाचाररहित वर्तते हैं, स्वरूप से बाहर निकलकर कोई विकल्प ही नहीं उठता तथा जो नित्य ज्ञानी हैं – ऐसी जिनकी दशा हुई है, उन वास्तव में सम्पूर्ण श्रामणवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना। शुभराग का विकल्प उठे, वह भी यथाचार नहीं है। उपवास करना माने और दूसरे दिन सबेरे की खिचड़ी के घंटे गिन रहा हो, वह यथाचार नहीं कहलाता, वह तो शुभभाव नहीं है-अशुभभाव है।

मुनि तो आत्मा के आनंद के रस में तरबतर होकर स्वरूपमंथर हो गये हैं, आहार लिया या नहीं लिया, उसका विकल्प भी नहीं उठता। जैसे गरम घी से भरे हुए तपेले में गरम-गरम पूरन पूरिया डुबोये और वे तरबतर होकर उनमें से घी टपक रहा हो, उसीप्रकार मुनि शुद्धोपयोग द्वारा चैतन्य समुद्र में ऐसे लीन हुए हैं कि अन्तर में आत्मा का आनंद रस टपक रहा है, आत्मा के आनंद में तरबतर हो गये हैं। देखो, यह मोक्ष की तत्परतावाले मुनि की दशा।

क्रमशः

आत्मधर्म (हिन्दी), वर्ष 7, अंक चार

आचार्यदेव परिचय शृंखला

भगवान आचार्यदेव
श्री जयसेनाचार्यदेव (चतुर्थ/पंचम)

भगवान श्री जयसेन आचार्य नामक मूलसंघ में अनेक आचार्य हुए हैं। जैसे:-

(1) श्रुतावतार की पट्टावली अनुसार आप श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्रथम) पश्चात् चौथे नम्बर के 11 अंग 14 पूर्वज्ञान के धारी जयसेन आचार्य थे। आपका काल वी. नि. सं. 268-289 गिना जाता है ?

(2) आचार्य श्री जयसेन भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के पट्टशिष्य थे। जिन्हें कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने 'प्रतिष्ठा-पाठ' लिखने की आज्ञा दी, जिसे शिरोधार्य करके दो दिन में 'प्रतिष्ठा-पाठ' पूर्ण करने से आपको आचार्यवर ने 'वसुबिन्दु' (आठ कर्म को शून्य करनेवाले) नाम से भी घोषित किया। आपका संक्षिप्त शब्दों में व गम्भीरता लिये हुए एकमात्र 'प्रतिष्ठा-पाठ' ग्रन्थ प्रतीत होता है। आपका समय ई.स. 127 से 179 के आसपास होना प्रतीत होता है।

(3) पुन्नाटसंघीय आचार्य जयसेनजी के बारे में हरिवंशपुराण में लिखा है कि वे 100 वर्ष की उम्रधारक, सद्गुरु, इन्द्रिय व्यापारजयी, कर्मप्रकृतिरूप आगम के धारक, प्रसिद्ध वैयाकरणी, प्रभावशाली, सम्पूर्ण शास्त्र समुद्र के पारगामी, सैद्धान्तिक विद्या के धारक भावलिंगी सन्त थे।

(4) पुन्नाटसंघ की गुर्वावली अनुसार शान्तिसेन के शिष्य व अमितसेन के गुरु जयसेनाचार्य थे। आपका काल ई.स. 723-773 गिना जाता है। यदि ये ही आचार्य पंचस्तूप गुर्वावली के आचार्य जयसेनजी हों तो उनका समय इस समय के पश्चात् का होना चाहिए।

(5) पंचस्तूप संघ की गुर्वावली अनुसार आचार्य आर्यनन्दि के शिष्य व धवलाकार आचार्य वीरसेनस्वामी के सहधर्मा जयसेनाचार्य थे। आपका काल ई.स. 770 से 827 था।

हाल में धवलाकार आचार्य श्री वीरसेनस्वामी के सधर्मा आचार्य के बारे में यहाँ दिया जा रहा है।

आप बड़े तपस्वी, प्रशान्तमूर्ति, शास्त्रज्ञ, पण्डितजनों में अग्रणी भावलिंगी सन्त आचार्यवर थे।

इस प्रकार 100 वर्शीय आयुधारक व कर्मप्रकृति के ज्ञाता, वैयाकरणी व शास्त्र-समुद्र के ज्ञाता आदि विशिष्टताओं से यह स्पष्ट होता है, कि पुन्नाटसंघीय व पंचस्तूपीय दोनों आचार्य एक ही हों और वे ही धवलाकार जैसे शास्त्र-समुद्र के पारगामी, वैयाकरणी सिद्धान्तसागर के धारक आचार्य वीरसेनस्वामी के सधर्मा होने को समर्थ हैं।

यद्यपि आपने कोई शास्त्र नहीं लिखा है, फिर भी आप अमित ज्ञान के सागर व महातपस्वी थे। इतना ही नहीं शास्त्र न लिखने के बावजूद भी उनके पश्चात्वर्ती आचार्यवर आपको बड़े सन्मान से स्मरण करने में अपना गौरव समझते हैं।

ऐसे अन्तरंग आत्मज्ञान की विशुद्धदशा के धारी महान तपस्वी, ज्ञान-ध्यान के भण्डार आचार्य सदा जयवन्त रहें। पुन्नाटसंघीय व पंचस्तूपीय जयसेनाचार्य एक ही हो, उस अनुसार आपका काल ई.स. 770 से 827 होना योग्य प्रतीत होता है। इससे अधिक जानकारी आपके बारे में हमें प्राप्त नहीं होती।

भगवान श्री जयसेनाचार्य भगवन्त को कोटि-कोटि वन्दन!

नवीन प्रकाशन - मोक्षमार्गप्रकाशक

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रथम बार **आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा विरचित मोक्षमार्गप्रकाशक की मूल हस्तलिखित प्रति से पुनः मिलान करके, आधुनिक खड़ी बोली में प्रकाशित हुआ है।** जो मुमुक्षु संस्था, समाज स्वाध्याय हेतु मंगाना चाहते हैं। वे डाकखर्च देकर, निःशुल्क मंगा सकते हैं।

छहढाला (हिन्दी) नवीन संस्करण **सशुल्क**

ग्रन्थ मँगाने का पता— प्रकाशन विभाग, तीर्थधाम मङ्गलायतन,
अलीगढ़-आगरा राजमार्ग, सासनी-204216
सम्पर्क सूत्र-9997996346 (कार्या०); 9756633800 (पण्डित सुधीर शास्त्री)
Email : info@mangalayatan.com; website : www.mangalayatan.com

उपदेश सिद्धांत रत्नमाला

धर्मायतनों में भेद करनेवाला गुरु नहीं

सो ण गुरु जुगपवरो, जस्सय वयणम्मि वट्टए भेओ।
चियभवण सावगाणं, साहारण दव्वमाईणं ॥152॥

भावार्थ - कोई मंदिरजी में रहनेवाले रक्ताम्बर अथवा भट्टारक आदि कहते हैं कि यह हमारा मन्दिर है, ये हमारे श्रावक हैं, यह हमारा द्रव्य है तथा वे चैत्यालय आदि हमारे नहीं हैं-इस प्रकार जो भेद मानते हैं वे गुरु नहीं हैं। गुरु तो बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित जो वीतराग हों वे ही हैं—ऐसा तात्पर्य जानना ॥152॥

मिथ्यात्व की गाँठ का माहात्म्य

संपइ पहुवयणेण वि, जाव ण उल्लसइ विहि-विवेयत्तं।
ता निविड मोह मिच्छत, गंठिया दुट्ठ माहप्पं ॥153॥

भावार्थ - जिनवचनों को पा करके भी यदि हित-अहित का ज्ञान नहीं हुआ तो ऐसा समझना कि उसके मिथ्यात्व का तीव्र उदय है ॥153॥

प्रभु वचनों की आसादना महादुःख का कारण है

बंधण मरण भयाइं, दुहाइं तिक्खाइं णेय दुक्खाइं।
दुक्खाण-दुह-णिहाणं, पहुवयण असायणा करणं ॥154॥

भावार्थ - बन्धनादि तो वर्तमान ही में दुःखदायी हैं, पर भगवान की वाणी का लोपना अनन्त भव में दुःखदायी है। इसलिए जिनाज्ञा भंग करना महा दुःखदायी जानना ॥154॥

आत्मज्ञान बिना सुश्रावकपना नहीं

पहुवयण-विहि-रहस्सं, णाऊण वि जाव ण दीसइ अप्पा।
ता कह सुसावगत्तं, जं चिण्णं धीरपुरुसेहिं ॥155॥

भावार्थ - प्रथम जिनवाणी के अनुसार आत्मज्ञानी होकर पश्चात् श्रावक के वा मुनि के व्रत धारण करे-ऐसी रीति है इसलिए जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं उसके सच्चा श्रावकपना भी नहीं होता-ऐसा जानना ॥155॥

जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने का मनोरथ

जह वि हु उत्तम सावय, पयडीए चडण करण असमत्थो।
तह वि पहुवयण करणे, मणोरहो मज्झ हिययम्मि ॥156॥

भावार्थ - मैं शक्ति की हीनता के कारण श्रावक के उत्कृष्ट व्रतों को धारण करने में असमर्थ हूँ, तो भी मुझे जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने की लालसा है-इस प्रकार ग्रंथकार ने भावना भाई है ॥156॥

प्रभु के चरणों में प्रार्थना

ता पहु पणमिय चरणे, इक्कं पत्थेमि परम भावेण।
तुह वयण-रयण-गहणे, अइलोहो हुज्ज मुज्झ सया॥157॥

अर्थ - हे प्रभु! परम भाव से आपके चरणों में प्रणाम करके एक प्रार्थना करता हूँ कि 'आपके वचन रूपी रत्नों को ग्रहण करने का मुझे सदा अत्यन्त लोभ हो'—ऐसी ग्रंथकार ने इष्ट प्रार्थना की है ॥157॥

गुरु के बिना सुख कैसे हो

इह मिच्छवास णिक्किट्ठ, भावउ गलिय गुरु-विवेयाणं।
अह्माण कह सुहाइं, संभाविज्जंति सुविणे वि॥158॥

भावार्थ - सुख का मूल विवेक है और वह विवेक श्री गुरु की कृपा से होता है, सो इस काल में सत्यार्थ गुरु का निमित्त मिलना ही कठिन है तो सुख कैसे हो॥159॥

पंचम काल में श्रावक कहलाना भी आश्चर्य है

जं जीविय मत्तं वि हु, धरेमि णामं पि सावयाणं च।
तं पि पहु! महाचुज्जं, इह विसमे दूसमे काले॥159॥

भावार्थ - इस काल में मिथ्यात्व की प्रवृत्ति बहुत है, इस कारण हम जीवित हैं और श्रावक कहलाते हैं, यह भी आश्चर्य है। इस प्रकार श्रावकपने की इस काल में दुर्लभता दिखाई है॥159॥

सम्यक्त्व प्राप्ति की भावना

परिभाविऊण एवं, तह सुगुरु करिज्ज अम्ह सामित्तं।
पहु सामग्गि सुजोगे, जह सुलहं होइ सम्मत्तं॥160॥

अर्थ - इस प्रकार विचार कर कहते हैं कि 'हे प्रभो! मुझ पर ऐसा स्वामिपना करो जिससे मुझे गुरु की सामग्री का सुयोग प्राप्त होकर सम्यक्त्व सुलभ हो जाये' अथवा 'जह सुलहं होइ सम्मत्तं' के स्थान पर 'जह सहलं होइ मणुयत्तं' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है कि 'ऐसा करो जिससे मेरा मनुष्यपना सफल हो जाये'॥160॥

अंतिम निवेदन-ग्रंथाभ्यास की प्रेरणा

एवं भण्डारिय णेमि, चन्द रइया वि कइट्ठि गाहाओ।
विहि मग्गरया भव्वा, पठंतु जाणंतु जंतु सिवं॥161॥

अर्थ - इस प्रकार भण्डारी नेमिचन्द द्वारा रचित ये कुछ गाथाएँ हैं उनको हे भव्य जीवों! तुम पढ़ो, जानो और कल्याणरूप मोक्ष पद प्राप्त करो। कैसे हैं भव्य जीव? विधि के मार्ग में रत हैं अर्थात् यथार्थ आचरण में तत्पर हैं॥161॥

समाचार-सार

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सानन्द सम्पन्न

तीर्थधाम मंगलायतन में वीर शासन जयन्ती के अवसर पर उत्तरप्रदेश जैन विद्या शोध संस्थान (संस्कृति विभाग उत्तरप्रदेश) लखनऊ के तत्त्वावधान में **दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी 21 एवं 22 जुलाई 2019** को आयोजन किया गया। इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में विषय **वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अहिंसा एवं सत्य की उपादेयता** पर कुल चार सत्रों का आयोजन किया गया। साथ ही भजन, भाषण, निबन्ध, एवं वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया गया। सभी सत्रों का संचालन मंगलार्थी छात्रों ने किया।

इस दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रमुख सूत्रधार प्रो. (डॉ.) अभयकुमार जैन, डॉ. राकेश सिंह, लखनऊ एवं डॉ. योगेशचन्द जैन अलीगंज थे। 21 जुलाई को उद्घाटन सत्र प्रातः 9 बजे प्रारम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता प्रो. डॉ. के. वी. एस. कृष्णा, कुलपति, मंगलायतन विश्वविद्यालय ने की। बीजक भाषण प्रो. (डॉ.) अभयकुमार जैन समन्वयक, उ. प्र. जैन विद्या शोध संस्थान लखनऊ ने दिया। चारों ही सत्रों में तीर्थधाम मंगलायतन द्वारा एवं उ. प्र. जैन विद्या शोध संस्थान लखनऊ ने सभी अतिथियों एवं विद्वानों का स्वागत किया। इस अवसर पर श्री पवन जैन का भी उद्बोधन प्राप्त हुआ। उन्होंने डॉ. अभयकुमार जैन, डॉ. राकेश सिंह, लखनऊ एवं डॉ. योगेशचन्द जैन अलीगंज को धन्यवाद ज्ञापित किया। इस प्रकार राष्ट्रीय संगोष्ठियों को आयोजन करते रहें ऐसी भावना भायी।

प्रथम सत्र प्रातः 10 बजे से प्रारम्भ हुआ। जिसकी अध्यक्षता प्रो. डॉ. के. वी. एस. कृष्णा, कुलपति, मंगलायतन विश्वविद्यालय ने की। मुख्य अतिथि प्रो. (डॉ.) अभयकुमार जैन, लखनऊ; विशिष्ट अतिथि डॉ. राकेश सिंह, विशेष कार्याधिकारी उ. प्र. जैन विद्या शोध संस्थान लखनऊ; डॉ. योगेश जैन, अलीगंज; पण्डित अशोक लुहाड़िया; श्री निर्मलकुमार जैन, एटा उपस्थित थे। प्रथम सत्र में डॉ. महेश शास्त्री, भोपाल; पंडित सौरभ शास्त्री, इंदौर; पंडित अंकुर जैन, भोपाल (दूरदर्शन भोपाल) और मंगलार्थी छात्रों ने अपना वक्तृत्व प्रदान किया। अध्यक्षीय भाषण द्वारा उदघाटन सत्र का समापन हुआ।

द्वितीय सत्र दोपहर 2 बजे से प्रारम्भ हुआ। जिसकी अध्यक्षता श्रीमती आरती निगम, प्राचार्या, दिल्ली पब्लिक स्कूल अलीगढ़ ने की। द्वितीय सत्र में पंडित निलय शास्त्री, आगरा; डॉ. योगेश जैन, अलीगंज; पण्डित गणतन्त्र शास्त्री, आगरा एवं मंगलार्थी छात्रों द्वारा अपने विचार व्यक्त किये गये। अध्यक्षीय भाषण द्वारा उदघाटन सत्र का समापन हुआ।

तृतीय सत्र सायं 6 बजे से प्रारम्भ हुआ। जिसकी अध्यक्षता डॉ. दीपक जैन, प्राचार्य, श्री के. एल. जैन इंटर कालेज, सासनी ने की। इस सत्र में भजन प्रतियोगिता,

भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इस अवसर पर मंगलायतन के मंगलार्थी छात्र, दिल्ली पब्लिक स्कूल अलीगढ़ के छात्रावास के छात्र एवं अध्यापक, श्रमण ज्ञान भारती मथुरा के छात्रों ने एवं अलीगढ़, हाथरस एवं बाहर के अनेक स्थानों से पधारे प्रतियोगियों ने भाग लिया। भजन प्रतियोगिता में पुराने कवियों के भजनों को एवं भाषण प्रतियोगिता में भगवान महावीर और उनके शासनकाल विषय पर प्रतियोगियों ने भाग लिया। अध्यक्षीय भाषण के साथ तृतीय सत्र का समापन हुआ।

अन्तिम सत्र 22 जुलाई को प्रात: 10 बजे से प्रारम्भ हुआ जिसकी अध्यक्षता श्रीमान निर्मलकुमार जैन, एड. एटा ने की। अन्तिम सत्र के बारे में डॉ. अभयकुमार जैन ने बताया कि इस प्रकार की संगोष्ठी में अन्तिम सत्र महत्वपूर्ण होता है। वक्ताओं के द्वारा बताया गया विषय हमारी कितनी समझ में आया इसमें और क्या गुंजाइश हो सकती है। इस अवसर पर पाँच मंगलार्थी छात्रों ने अपने उद्‌गार व्यक्त किये, सभी ने गोष्ठी को बहुत अच्छा बताया इसी प्रकार गोष्ठियां होनी चाहिए क्योंकि एक ही छत के नीचे विभिन्न विद्वानों के भाव सुनने को मिलते हैं।

डॉ. अभयकुमार जैन एवं डॉ. राकेश सिंह, लखनऊ ने सभी प्रतियोगिताओं के परीक्षा परिणाम प्रस्तुत किये तथा प्रतियोगिता में प्राप्त प्रथम, द्वितीय तृतीय प्रतिभागियों को शील्ड, प्रमाणपत्र एवं बैग द्वारा सम्मानित किया गया। निबन्ध प्रतियोगिता में प्रथम सम्यक जैन, शिकोहाबाद; द्वितीय डॉ. सचिन्द्र जैन मंगलायतन; तृतीय नन्दनी जैन, अलीगढ़। भजन प्रतियोगिता में प्रथम संस्कार जैन, मथुरा; द्वितीय आगम जैन, करेली; तृतीय पायल जैन, सासनी। भाषण प्रतियोगिता में प्रथम शाश्वत जैन, जयपुर; द्वितीय विकर्ष जैन, मथुरा; तृतीय आयुष जैन, ललितपुर।

अन्तिम प्रतियोगिता वाद-विवाद का आयोजन किया गया। जिसका विषय - किसी भी राष्ट्र के विकास में धार्मिक भावनाएँ साधक हैं या बाधक हैं। इसमें कुल पक्ष एवं विपक्ष से 18 प्रतियोगियों ने भाग लिया। जिसमें प्रथम सम्यक मोदी, खुरई; मेधा यादव, अलीगंज; विधान जैन, फरीदाबाद रहे।

अन्त में सम्पूर्ण गोष्ठी के आयोजन को सभी ने साधुवाद कहा, जिसका सभी ने हृदय से आभार व्यक्त किया। इसी प्रकार ऐसी गोष्ठियाँ आयोजित की जानी चाहिए।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में तत्त्व प्रभावना

तीर्थधाम मङ्गलायतन : बालब्रह्मचारी कल्पनाबेन का प्रवास वर्तमान में तीर्थधाम मङ्गलायतन में चल रहा था। उनके द्वारा पवनजी के स्वास्थ्य को देखते हुए प्रवचनसार एवं सर्वार्थसिद्धि का लाभ को प्राप्त हो रहा था। इसी शृंखला में 28 जून से 24 जुलाई तक ब्रह्मचारी धवलजी के द्वारा प्रात:काल समयसार तथा सांयकाल रत्नकरण्ड श्रावकाचार का लाभ विद्यार्थियों को प्राप्त हुआ।

उत्तरप्रदेश जैन विद्या शोध संस्थान (संस्कृति विभाग उत्तरप्रदेश)
के तत्त्वावधान में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी की झलकियाँ

Regn. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

क्षायिकलब्धियों के प्रति मुनिराज की उत्सुकता

मुनिराज समाधिपरिणत तो हैं परन्तु सनातन शुद्ध निज ज्ञायकद्रव्य सामान्य का अवलम्बन करके विशेष-विशेष समाधि सुख प्रगट करने के लिए वे अति आतुर हैं। जैसे, पाँच लाख रुपये का पूँजीपति पच्चीस लाख रुपये कमाने की भावना करता है; इसी प्रकार मुनिराज, निज ज्ञायकस्वभाव के उग्र अवलम्बन से प्रचुर समाधिसुख प्रगट करने के लिए अति उत्सुक है।

अज्ञानी मनुष्य तो पैसा, प्रतिष्ठा और वैभव का लोलुपी अर्थात् तृष्णातुर होता है; जबकि धर्मी जीव, आत्मसाधना के लोलुपी अर्थात् लगनवाले होते हैं। मुनिराज तो विशेष आत्मसाधना के लोलुपी अर्थात् परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन आदि अनन्त क्षायिक लब्धियों को प्रगट करने के लोलुपी हैं/उत्सुक हैं। *(वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 205)*

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा **मङ्गलायतन** मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : डॉ. सचिन्द्र शास्त्री, मङ्गलायतन।

मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरारोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)
Shri Adinath-Kundkund-Kahan Digamber Jain Trust
Harinagar, Agra Road, Aligarh-202001 (U.P.)
Ph. : 9997996346, 2410010/10; Fax : 2410019/22
info@mangalayatan.com www.mangalayatan.com